नमिनाथ-स्तवन

स्तुत्य रहे या नहीं रहे, फल उसे मिले या नहीं मिले ।
स्तुति जब करता सज्जन मन में पुण्य-भाव की कली खिले ॥
निजाधीन औ सुलभ मोक्षपथ जग में इस विध बनता हो ।
पूज्य ईश नमि जिन फिर क्यों ना तव थुति रत बुध जनता हो ॥१॥

परम ब्रह्म रत हो तोड़ा भव-बंधन प्रभु कृत-काम बने ।
इसीलिए जिन सुधीजनों के बोध-धाम शिव-धान बने ॥
ज्ञान-ज्योति अति प्रखर किरण ले उदित हुई फलतः तुम में ।
पर-मत जुगनू सम कुंदित हैं तेज उदित हो रवि नभ में ॥२॥

अस्ति नास्ति औ उभय रूप भी अवक्तव्य भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी तीन रूप यों सप्त भंगमय तत्त्व रहा ॥
आपस में आपेक्षित बहुविध धर्मों से जो भरित रहा ।
गौण-मुख्य कर बहुनय-वश वह लोक ईश से कथित रहा ॥३॥

अणु-भर भी षडारम्भ हो वहाँ दया यह नहीं रहे ।
जीव-दया सो परम-ब्रह्म है जग में बुधजन यही कहें ॥
अतः दया की प्राप्ति हेतु प्रभु करुण भाव से पूर रहें ।
उभय संग तज बनों दिगंबर विकृत वेष से दूर रहे ॥४॥

भूषण वसनादिक से रीता नग्न काय तव यों गाता ।
जीता तुमने काम-बली को जित इन्द्रिय हो हो धाता ॥
तीक्ष्ण शस्त्र निज उर में थित अदय क्रोध का नाश किया ।
निर्मोही हो अतः शरण दो शान्ति-सदन में वास किया ॥५॥

- दोहा -

अनेकान्त का दास हो अनेकान्त की सेव ।
करूँ गहूँ मैं शीघ्र से अनेक गुण स्वयमेव ॥१॥
अनाथ मैं जगनाथ हो नमीनाथ दो साथ
तव पद में दिन-रात हूँ हाथ जोड़ नत-माथ ॥२॥

नेमिनाथ-स्तवन

ऋद्धि-सिद्धि के धारक, ऋषि हो, प्राप्त किया है निज धन को ।
शुक्ल ध्यान मय तेज अनल से जला दिया विधि-इंधन को ॥
खिले-खुले तव नील कमल-सम, युगल-सुलोचन विकसित हैं ।
सकल ज्ञान से सकल निरखते भगवन जग में विलसित हैं ॥१॥

विनय समाधिक पाप सहित पथ के दर्शक तीर्थंकर हो ।
लोक तिलक हरिवंश मुकुट हो, संकट के प्रलयंकर हो ॥
हुए शील के अपार सागर, भवसागर से पार हुए ।
अजरामर हो अरिष्ट नेमी जिनवर ! जग में सार हुए ॥२॥

झिलमिल-झिलमिल मणियों से जो जड़ित मुकुट को चढ़ा रहे ।
तव चरणों में अवनत सुरपति और मंजुता बढ़ा रहे ॥
कोमल-कोमल लाल-लाल तव युगल पाद-तल विमल लसे ।
तालाबों में खुले-खिले-ज्यों लाल दलों से कमल लसे ॥३॥

शरद-काल के पूर्ण चन्द्र की शुभ्र चाँदनी-सी लसती ।
पूज्य-पाद की नखावली ये जिनमें जा मम मति बसती ॥
थुति करते नित तव पद में नत प्रभु दर्शन की आस लगी ।
पुण्य राशि, जिन को जिन आतम सुख की चिर से अतिप्यास लगी ॥४॥

तेज-भानु-सा चक्र-रत्न से जिनके कंधे शोभित हैं ।
घिरे हुए हैं स्वजन बंधुओं से जो पर में मोहित हैं ॥
सघन-मेघ-सम नील वर्ण का जिन का तन जगनामी है ।
भ्रात चचेरे कृष्ण-राज तव तीन खण्ड के स्वामी हैं ॥५॥

श्रवण-भक्ति से मुदित रहे है जन-जन के जो सुखकर हैं ।
धर्म रसिक हैं विनय-रसिक हैं इस विध चक्री हलधर हैं ॥
भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नेमिनाथ तव ! चरणन में ।
दोनों आकर बार-बार नत होते हर्षित तन-मन में ॥६॥

सौराष्ट्रन में, वृषभ-कंध-सम उन्नत पर्वत अमर रहें ।
खेचर महिलाओं से सेवित जिसके शोभित शिखर रहें ॥
बादल-दल-से जिसके तट भी सदा घिरे ही रहते हैं ।
जहाँ इन्द्र ने तव गुण लक्षण लिखे, जिन्हें बुध कहते हैं ॥७॥

तव गुण लक्षण धारण करता अतः तीर्थ वह महा बना ।
ऊर्जयन्त फिर ख्यात हुआ है पुराण कहते महामना ॥
सुचिर काल से आज अभी भी जिसका वन्दन करते हैं ।
ऋषि-गण भी अति प्रसन्न होते सफल स्वजीवन करते हैं ॥८॥

बाहर से भी भीतर से भी ना तो साधक बाधक हो ।
इन्द्रिय गण हो यद्यपि तुममें तदपि मात्र प्रभु ज्ञायक हो ॥
एक साथ जिननाथ, हाथ की रेखा सम सब त्रिभुवन को ।
जान रहे हो देख रहे हो विगत-अनागत कण कण को ॥९॥

इसीलिए यति मुनिगण से प्रभु-पद युग-पूजित सुखदाता ।
अद्भुत से अदभुत तम आगम-संगत चारित तव गाता ॥
इस विध तव अतिशय का चिन्तन करके मन में मुदित हुआ ।
जिन-पद में अति निरत हुआ हूँ आज भव्य शुभ उदित हुआ ॥१०॥

- दोहा -

नील गगन में अधर हो शोभित निज में लीन ।
नील कमल आसीन हो नीलम से अति नील ॥१॥

शील-झील में तैरते नेमि जिनेश सलील ।
शील डोर मुझ बाँध दो डोर करो मत ढील ॥२॥

पार्श्वनाथ-स्तवन

जल वर्षाते घने बादले काले-काले डोल रहे ।
झंझा चलती बिजली कड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे ॥
पूर्व वैर-वश कमठ देव हो इस विध तुमको कष्ट दिया ।
किन्तु ध्यान में अविचल प्रभु हो घाति कर्म को नष्ट किया ॥१॥

घाति मग बिजली सम पीला निज फण का मण्डप बना लिया ।
नाग इन्द्र तव कष्ट मिटाने तुम पर समुचित तना दिया ॥
दृश्य मनोहर तब वह उस विस्मय-कारी एक बना ।
संध्या में पर्वत को ढकता समन-बिजली मेघ घना ॥२॥

आत्म ध्यान-मय कर में खर तर खड्ग आपने धार लिया ।
मोहरूप निज दुर्जय रिपु को पल-भर में बस मार दिया ॥
अचिन्त्य-अद्भुत आर्हत पद को फलतः पाया अघहारी ।
तीन लोक में पूजनीय जो अतिशयकारी अतिभारी ॥३॥

मनमाने कुछ तापस ऐसे तप करते थे वनवासी ।
पाप-रहित तुम को लख, इच्छुक तुम-सम बनने अविनाशी ॥
हम सब का श्रम विफल रहा यों समझ सभी वे विकल हुए ।
शम यम तम मय सदुपदेश सुन तव चरणन में सफल हुए ॥४॥

समीचीन विद्या-तप के प्रभु रहे प्रणेता वरदानी ।
उग्र-वंश मय विशाल नभ के दिव्य सूर्य, पूरण ज्ञानी ॥
कुपथ निराकृत कर भ्रमितों को पथिक सुपथ के बना दिये ।
पार्श्वनाथ मम पास वास बस, करो, देर अब बिना किये ॥५॥

- दोहा -

खास दास की आस बस श्वास-श्वास पर वास।
पार्श्व करो मत दास को उदासता का दास ॥१॥

ना तो सुर-सुख चाहता शिव-सुख की ना चाह।
तव थुति-सरवर में सदा होवे मम अवगाह ॥२॥

वीर-स्तवन

तव गुण-गण की फैल रही है विमल कीर्ति वह त्रिभुवन में।
तभी हो रहे शोभित ऐसे वीर देव बुध जन-जन में ॥
कुन्द पुष्प की शुक्ल कान्ति-सम कान्ति धाम शशि हो भाता।
घिरा हुआ हो जिससे उद्गदन गीत-गगन में हो गाता ॥१॥

सत युग में था कलियुग में भी तव शासन जयवन्त रहा।
भव्यजनों के भव का नाशक मम भव का भी अन्त रहा ॥
दोष चाबु को निरस्त करते पर मत खण्डन करते हैं।
निज-प्रतिभा से अतः गणी ये जिनमत मण्डन करते हैं ॥२॥

प्रत्यक्षादिक से ना बाधित अनेकान्त मत तव भाता।
स्याद्-वाद सब वाद-विवादों का नाशक मुनिवर ! साता ॥
प्रत्याक्षादिक से हैं बाधित स्याद्वाद से दूर रहे।
एकान्ती मत इसीलिए सब दोष धूल से पूर रहे ॥३॥

दुष्ट दुराशय धारक जन से पूजित जिनवर रहे कदा ?
किन्तु सुजन से सुरासुरों से पूजित वंदित रहे सदा ॥
तीन लोक के चराचरों के परमोत्तम हितकारक हैं।
पूर्ण ज्ञान से भासमान शिव को पाया अघहारक हैं ॥४॥

समवशरण थित भव्यजनों को रुचते मन को लोभ रहे।
सामुद्रिक औ आत्मिक गुण से हे प्रभुवर अति शोभ रहे ॥
चमचम चमक निजी कान्ति से ललित मनोहर उस शशि को।
जीत लिया तव काय कान्ति से प्रणाम मम हो जिन ऋषि को ॥५॥

मुमुक्षु जन के मनवांछित फलदायक ! नायक ! जिन तुम हो।
तत्त्व-प्ररूपक तव आगम तो श्रेष्ठ रहा अति उत्तम हो ॥
बाहर-भीतर श्री से युत हो माया को निःशेष किया।
श्रेष्ठ श्रेष्ठतम कठिन कठिनतम यम-दम का उपदेश दिया ॥६॥

मोह-शमन के पथ के रक्षक अदया तज कर सदय हुए।
किया जगत में गमन अबाधित सभय सर्भाजन, अभय हुए ॥
ऐसा लगते तब, गज जैसा मद-धारा, मद बरसाता।
बाधक गिरि की गिरा करिनियाँ अरुक अनाहत बस जाता ॥७॥

एकान्ती मत-मतान्तरों में वचन यदपि श्रुति-मधुर सभी।
किन्तु मिले न सगुण कभी भी नहीं सकल-गुण प्रचुर कभी ॥
तब मत ''समन्तभद्र'' देव है सकल गुणों से पूरण हैं।
विविध नयों की भक्ति-भव्य को शीघ्र जगाता चूरण है ॥८॥

- दोहा -

नीर-निधी-से धीर हो वीर बने गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया भवसागर का तीर ॥१॥

अधीर हूँ मुझ धीर दो सहन करूँ सब पीर।
चीर-चीर कर चिर लखूँ अन्तर की तस्वीर ॥२॥

भूल्य क्षम्य हो !

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥

मंगलकामना

विना-भीति विचरूँ सदा वन में ज्यों मृगराज ।
ध्यान धरूँ परमात्म का निश्चल हो गिरिराज ॥१॥

सागर सम गंभीर मैं बनूँ चन्द्र-सम शान्त ।
गगन-तुल्य स्वाश्रित रहूँ हरूँ दीप-सम ध्वान्त ॥२॥

रवि सम पर-उपकार में करूँ सगज कर्तव्य ।
रखूँ न मन में मान-मद सुन्दर हो भवितव्य ॥३॥

चिर संचित सब कर्म को राख करूँ बन आग ।
तप्त आत्म को शान्त भी करूँ बनूँ गतराग ॥४॥

सदा संग बिन पवन सम विचरूँ मैं निस्संग ।
मंत्र जपूँ निज तन्त्र का नष्ट शीघ्र हो अंग ॥५॥

तन मन को तप से तपा स्वर्ण बनूँ छविमान ।
भक्त बनूँ भगवान को, भजूँ बनूँ भगवान ॥६॥

द्रव्य हेय जड़मय तजूँ, ध्येय बना निज द्रव्य ।
कीलित कर निज चित्त को पाऊँ शिव-सुख दिव्य ॥७॥

भद्र बनूँ बस भद्रता जीवन का शृंगार ।
द्रव्य दृष्टि में निहित है सुख का वह संचार ॥८॥

तामस बस प्रति लोम हो मुझमें चिर बस जाय ।
है यह हार्दिक भावना मोह सभी नश जाय ॥९॥

गुरु-स्मृति

तरण "ज्ञानसागर" गुरु !, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

स्थान एवं समय-परिचय

भव सागर से भीत हैं सागर के सागार ।
प्रथम बार पहुँचा यहाँ ससंघ मैं अनगार ॥१॥

द्रव्य-गगन-गति-गंध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को ध्येय ! बनूँ जिनराज ॥२॥

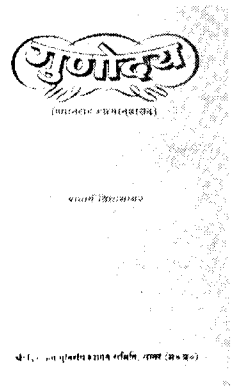

गुणोदय

मूल : आत्मानुशासन (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य गुणभद्र

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय ।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अति शीत ।
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु कर गुरु-चरण रज सरपर सुचढ़ाय ।
यह मुनि-मन गुरु भजन में निशि दिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगंधित महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण गण निधि गुणभद्र-गुरु महके भगवत् सुगन्ध ।
अर्पित जिनपद में रहें गंधहीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे कृपीश ।
करुणा-कर करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

आतम अनुशासन का पद्यमयी अनुवाद ।
करूँ, प्रयोजन बस यही मोह मिटे परमाद ॥७॥

गुणोदय

सादर उर में बिठा वीर को जिनके विधि सब विलय हुए ।
समवशरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण निलय हुए ॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना ।
भविक जनों को मोक्ष मिले बस करूँ प्रयोजन औ' कुछ ना ॥१॥

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये ।
भव-भव, भय-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए ॥
मन वांछित फल मिले तुम्हें बस यही भावना भाकर मैं ।
दुख का हारक सुख कारक पथ्य कहूँ जिन चाकर मैं ॥२॥

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो ।
किन्तु अन्त में मधुर-मधुरतम सुख बनता निर्बाध बनो ॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मत इससे मन में भय लाना ।
रोग मिटाने रोगी चखता जिस विधि कटु औषध नाना ॥३॥

करुणा रस पूरित उर वाले जग हित में नित निरत रहें ।
दुर्लभ जग में सुलभ अदय जन वाचाली बस फिरत रहें ॥
ढुलमुल-ढुलमुल-नभ में डोले बिन जल बादल बहुत बके ।
सजल जलद हैं जल बरसाते कम मिलते मन मुदित भले ॥४॥

जन-मन हारक पर निंदक नहिं विविध प्रश्न भी सहन करें ।
उत्तर मुख में रखते प्रतिभा, निधि गुणगण को ग्रहण करें ॥
शमी दमी व्यवहार चतुर हैं शास्त्र ज्ञान के सही धनी ।
नित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलते सुधी गणी ॥५॥

शिवपथ पथिकों को पथदर्शित करने रत बोधित भवि को ।
दोष रहित श्रुत पूरण धरते धरते शुचि चारित छवि को ॥
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुध जन से भी वंदित हैं ।
यतिपति गुण ये जिनमें वह "गुरु" और गुणों से मंडित हैं ॥६॥

मम हित किसमें निहित रहा यों चिंतित दु:खित प्रति श्वासा ।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा ॥
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी ।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी ॥७॥

हिंसादिक इन पाप कर्म कर, प्राणी पल पल दुख पाता ।
लोक मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता ॥
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो ।
चर्म-राग तज, धर्म भाव में भाव्य मान अनुराग करो ॥८॥

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे ।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम वशे ॥
श्रुति जिन से जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नहीं ।
सही समझ शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही ॥९॥

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने ।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि धाम बने ॥
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिकों को ।
तत्त्वों अर्थों का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियों को ॥१०॥

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा ।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उदभव तथा रहा ॥
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है ।
आवगाढ, परमावगाढ है गाता यह जिन-दर्शन है ॥११॥

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है ।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ में रुचि हो मारग दर्शन है ॥
परम पूत तम पुरुष तथा सुन परम दृष्टि जो पाना है ।
ग्रन्थ सृजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है ॥१२॥

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला ।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञान हो किसी बीज पद सही खुला ॥
मोह कर्म के पर उपशम से बीज समुद्भव दृष्टि खिली ॥
गूढ़ पदार्थाभिधेय सूचक सूत्र सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली ॥१३॥

द्वादशांग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही ।
अंग बाह्य बिन सुन तदंश में रुचि हो सार्थक दृष्टि वही ॥
मथन अंग का अंग बाह्य का दृष्टि वहीं 'अवगाढ' रही ।
पूर्ण ज्ञान में आगत में रुचि दृष्टि "परम-अवगाढ" वही ॥१४॥

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना ।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम समदर्शन बिन सब सपना ॥
समदर्शन से मंडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना ।
मंजु-मंजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना ॥१५॥

किसमें मम, हित आहत निहित है तुझको यह ना विदित रहा ।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह रोग से व्यथित रहा ॥
क्लेश बिना शिशु को जननी ज्यों शिवपथ परिचित करा रहे ।
कोमल समकित संस्कारों से हम संस्कारित करा रहे ॥१६॥

विषम विषयमय अशन उड़ाया तुमने कितना पता नहीं ।
मोह महाज्वर तभी चढ़ा है तृष्णा तुमको सता रही ॥
अणुव्रत लेना नि:शंकित तुमको समयोचित सार यही ।
प्राय: पाचक पथ्य पेय से प्रारंभिक उपचार सही ॥१७॥

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा ।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा ॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे ।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे ॥१८॥

मन वांछित इन्द्रिय विषयों के भाँति भाँति के सुख सारे ।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओं के रस फल प्यारे ॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओं का किसी तरह रक्षण करना ।
प्राप्त फलों को संचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना ॥१९॥

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है ।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है ॥
मन में भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कहीं ।
किन्तु स्वप्न में भी नहिं होना धर्म विमुख धर ध्यान सही ॥२०॥

धर्म पालते फलतः मिलता अतुल विभव भरपूर सही ।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नहीं ॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है ।
किन्तु पृथक् रख बीज सुरक्षित पुनः शेष फल खाता है ॥२१॥

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है ।
चिंतामणि से मन में चिंतित मिलता पर मन खिलता है ॥
किन्तु कल्पना चिंता के बिन अनुपम अव्यय फल देता ।
सत्य धर्म है क्यों ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता ॥२२॥

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा ।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा ॥
अतः पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा ।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का संचय अब अनिवार्य रहा ॥२३॥

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित हैं गिरे हुए ।
विषय सुखों का सेवन करते मोह भाव से घिरे हुए ॥
सरस फलों से लदा हुआ है मूल सहित द्रुम छेद रहे ।
फल खाने में निरत हुएहैं नहीं अनागत वेद रहें ॥२४॥

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा ।
मन से वच से औ तन से भी पूर्ण अभय जो कार्य रहा ॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नहीं हो सकता ।
[illegible] है पीलो घोलो पल भर में मल धो सकता ॥२५॥

जब तक जिसके जीवन में वह जीवित जागृत धर्म रहा ।
मारक को भी नहीं मारते तब तक ना अघ कर्म रहा ॥
चूंकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट-पिट आपस में मिटते ।
अतः धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख हैं मिलते ॥२६॥

पाप बन्ध वह हो नहिं सकता सुख के सेवन करने से ।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिंसादिक अघ करने से ॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहिं वह आता ।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन क्या सुख पाता ॥२७॥

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दुःख हैं पर भव में भी दुखकारी ।
पाप ताप हैं किन्तु उन्हें तुम मान रहे अति सुखकारी ॥
इन्द्रिय सुख में अनासक्त क्यों बुधजन जिसको अपनाते ।
उभय लोक में सुखद धर्म को क्यों न मानते अपनाते ॥२८॥

दोष रहित हैं, त्राण रहित हैं रहती हैं भयभीत यहीं ।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही ॥
दंत पंक्ति में मिले मृदुल तृण भोजन करतीं मृगी व्यथा ।
व्याध उन्हें भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा ॥२९॥

पर निन्दन तज दैन्य दम्भ से सभी सर्वथा दूर रहो ।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो ॥
चूंकि धर्म-धन यश-धन धी-धन इष्ट तुम्हें हैं सुखकर हैं ।
इस भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है ॥३०॥

पुण्य करो निज पुण्य पुरुष को कुछ नहिं करती आपद है ।
आपद ही वह बन जाती है सुखद संपदा आस्पद है ॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यदपि यहाँ ।
सकल दलों सह कमल दलों को खुला खिलाता तदपि अहा ॥३१॥

सुर गुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था ।
स्वर्ण दुर्ग था व्रज शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था ।
बली इन्द्र भी इस विध रण में रावण दानव से हारा ॥
अतः शरण बस देव, वृथा है पौरुष को बहु धिक्कारा ॥३२॥

धरणीपतिसम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए ।
जलनिधि धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए ॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित में निर निरत हुए ।
सन्त आज भी लसे पुराने मुनिसम कतिपय विरत हुए ॥३३॥

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मद्य पी भ्रमित हुए ।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए ॥
अहो ! मूढ जग जनन मरण के दीर्घ दाढ़ में पड़ा हुवा ।
नहिं लखता, रत, तन हरने में निकट काल को खड़ा हुवा ॥३४॥

मोही जड़ जन अन्ध बने हैं विषयों में जो मूल रहे ।
महा अन्ध हैं अन्धों से भी सत्यपंथ को भूल रहे ॥
नेत्रों से जो अन्ध बने हैं मात्र रूप को नहिं लखते ।
किन्तु मूढ़ विषयान्ध बने कुछ भी न लखे सुध नहिं रखते ॥३५॥

प्रति प्राणी में आसारूपी गर्त पड़ा है महा बड़ा ।
जिसमें सब संसार समाकर लगता अणुसम रहा पड़ा ॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बता सही ।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही ॥३६॥

उचित आयु धन तन सुख मिलने पास पुण्यमय रतन रहा ।
यदि वह नहिं तो धनादि भी नहिं भले करो अब यतन महा ॥
यही सोच इस भव सुख पाने सोच लेते ये आर्य नहीं ।
परभव सुख के निशालिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही ॥३७॥

कटु कटुतम विषसम विषयों में कौन स्वाद तू लुभित सुधी ।
जिसे ढूँढने निजी अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी ॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा ।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा ॥३८॥

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा ।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा ॥
चूंकि शक्ति नहिं तुझमें उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे ।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे ॥३९॥

किसी तरह भी विश्वसाम्रज्य सार्वभौम पद प्राप्त किया ।
किन्तु अन्त में तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया ॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहिं तो तव उपहास हुवा ।
पतित धूल में मोदक ले कृपि का जिस विध यश नाश हुवा ॥४०॥

सुबुध-चरित को भी वह करता पूर्ण पापमय कभी कभी ।
कभी कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी कभी ॥
अंध रज्जु संपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा ।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा ॥४१॥

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया ।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया ॥
विष में जीवन तेल रेत में ढूढ रहा दिन रात अहा ।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे ज्ञात हुआ ॥४२॥

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा ।
दुख के कारण आशावर्धक भोग संपदा चाह रहा ॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शांति खोजता दुखी बड़ा ।
बाँस जल रही उसकी छाया में जाकर बस वहीं खड़ा ॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला ।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला ॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमें जहाँ मिला जल क्षार भरा ।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा ॥४४॥

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे ।
उनका वह धन बढ़ नहिं सकता साधु सन्त यों बता रहे ॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहतीं जग में जल से भरी-भरी ।
मलिन सलिल से सदा भरीं वे विमल सलिल से कभी नहीं ॥४५॥

अधर्म जिसमें पलता नहिं है धर्म वहीं पर पलता है ।
गन्ध दु:ख की आती नहिं है उसमें ही सुख फलता है ॥
वही ज्ञान है वहीं ज्ञान है जहाँ नहीं अज्ञान रहा ।
वही सही गति चहुँ गतियों का जब होता अवसान रहा ॥४६॥

धन-कन-कंचन संचय करने असि मषि कृषि में बन श्रमधी
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लंपटी बन भ्रमधी ॥
शम यम दम नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही
जनन मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं ॥४७॥

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा ।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय यों बार-बार पा कष्ट रहा ॥
निर्दय यम के ज्वाला मुख में जब तक नहिं जल मरता ।
तब तक पीले निजी शांतिमय अविकल अविरल जल झरता ॥४८॥

परवश आशा सरिता में तुम बह बह कर अति दूर गये ।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये ? ॥
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो ।
नहिं तो पातक मरण मगर मुख, में पड़ भव दधि पीर सहो ॥४९॥

रस ले लेकर नीरस कह कर विषयी जन सब विषय तजे ।
उन्हें मूढ़ तुम अपूर्व समझे करें उन्हीं की विनय भले ॥
आशा रूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा ।
मिटे न तब तक विषय कीट ! रे शांति नहीं ना निजी मजा ॥५०॥

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहिं पाते ।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, -वाते तातैं दुख पाते ॥
साधु जनों ने जिनको त्यागा चाह उन्हीं की नित करते ।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहिं करते ॥५१॥

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता ।
ध्रुव कुछ नहिं लग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता ॥
भ्रान्त ! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो आँख खोलकर सही सही ।
बार बार हो भ्रमित रम रहा विषयों में ही वहीं-वहीं ॥५२॥

नरकों में दुख सहन किये हैं करनी की थी पाप भरी ।
दूर रहें वे बीत गये हैं जिनकी स्मृति भी ताप करी ॥
मदन बाण सम स्त्रीजन कटाक्ष से निर्धन तू जला मरा ।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा ॥५३॥

आत्म प्रवंचक चरित रहित है आधि व्याधि से सहित रहा ।
सप्त धातुमय तन धारक है क्रोधी तन से उदित अहा ॥
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा ।
हे ! जन्मी क्यों ? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा ॥५४॥

तरुण अरुण की खरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा ।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत संतप्त तथा ॥
कुधी विषय सुख मिलते नहिं तब अघकर उसविध दुख पाता ।
नीर निकट-तम कीच बीच फंस बैल-क्षीण बल दुख पाता ॥५५॥

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती ।
इन्धन जब इसको ना मिलता, जली ना झट बुझ जाती ॥
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती ।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती ॥५६॥

दुखमय ज्वाला लपटों से क्या कभी काय तव जला नहीं ।
मधु मक्खी सम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं ॥
गर्जन करते काल वाद्य के, भयद शब्द क्या सुना नहीं ।
क्यों न तजी फिर निंद्य मोह की नींद, भाव यह गुना नहीं ॥५७॥

तन में घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा ।
पुनि पुनि पल पल विधि बंधन में पड़ना भी अविराम रहा ॥
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा ।
फिर भी जन्मी ! भव में रमता, विस्मय का यह धाम रहा ॥५८॥

स्थूल हाड़मय काष्ट रचित है सिरा नसों से बंधा हुवा ।
विधि-रिपु रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा ॥
लगा जहाँ पर आयु रूप गुरु-सांकल है तव तन घर है ।
मूढ़ उसे तू जेल समझ मत वृथा राग कर अघकर है ॥५९॥

विधि बंधन के मूल बंधुजन शरण काय नहिं अशरण है ।
आपद गृह के महाद्वार हैं चिर परिचित प्रमदा जन हैं ॥
स्वार्थ परायण सुत, रिपु हैं, यदि तुमको है शिव चाह रही ।
तजो इन्हें बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही ॥६०॥

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इंधन सम क्या उस धन से ? ।
पाप जनक संबंध रहा है जिनका क्या उन परिजन से ? ।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से ? ।
भज समता रे ही ? सुख-वांछक प्रमाद तज तू तन मन से ? ॥६१॥

सेनापति औ बली जनों के सर्वप्रथम आश्रित रहती ।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक, -दल से फिर आवृत रहती ॥
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती ।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती ॥६२॥

जनन मरण से व्याप्त रहा है जड़ मय तेरा यह तन है ।
खेद, खेद का अनुभव करता तन में स्थित हो निशिदिन है ॥
अग्नि लगी एरण्ड काष्ठ में दोनों मुख जिसके जलते ।
जैसे उसमें स्थित कीड़े हा ! दुख पाते मरते जलते ॥६३॥

दुराचार कर अघ करता क्यों दुखित हुवा सम नौकर के ।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने सुध खोकर के ॥
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने ।
अकलुष निज लख शिव सुख पा पाल चरित, विधि नाश घने ॥६४॥

धन का अभिलाषी नहिं धन पा, दुखी रहें निर्धनी सदा ।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हो दुखी रहें नित धनी मुधा ॥
धनिक दुखी है दुखी निर्धनी खेद यहाँ सब देख दुखी ।
अंतरंग बहिरंग संग तज निसंग मुनि बस एक सुखी ॥६५॥

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो परके आश्रित है ।
यथार्थ सुख तो शाश्वत सुख यह निज के आश्रित है ॥
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शंकित इस विध है ।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है ॥६६॥

निजाधीन हो विचरण करते बिना याचना अशन करें ।
बुध जन संगति करते श्रुत का मनन करें मन शमन करें ॥
बाह्य-द्रव्य में मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा ।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना, विफल रहा ॥६७॥

विरति विषय से कर श्रुत चिंतन उर से करुणा अति बहती ।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने में नित रत रहती ॥
अशन अन्त में तज तन तजना पर आगम बल पर चलना ।
महामना उन मुनियों का यह लघु तप विधि का प्रतिफल ना ! ॥६८॥

कोटि-कोटि खुद उपाय कर लो तन लक्षण नहिं संभव है ।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असंभव है ॥
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है ।
तन रक्षण का हट छोड़ो तुम समझो यह "तन लक्षण" है ॥६९॥

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे ।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरंग जीवन यह प्यारे ॥
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिव पद है ।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वयं आ गई संपद है ॥७०॥

उच्छ्वासों का नि:श्वासों का करता है अभ्यास सदा ।
जीव चाहता तन से निकलूँ बाहर, शिव में वास कदा ॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढ़ेगी कहते हैं
अजर अमर आतम बनता है फलत: जड़ जन बहते हैं ॥७१॥

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे बस पल-पल है ।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है ॥
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा ।
किन्तु नाव-थित नर सम निज को भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा ॥७२॥

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा ।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा ॥
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी ।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी ॥७३॥

जनन ताड़ के पादप से तो प्राणी फल दल पतित हुए ।
अधोमुखी हैं निराधार हैं पथ में हैं वे पथिक हुए ॥
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहिं आये ।
कब तक फिर वे अन्तराल में अधर गगन में रह पाये ॥७४॥

नीचे नारक असुरों ऊपर देवों को बस ! बसा दिये ।
मध्य मानवों को रख अमितों द्वीप सागरों घिरा दिये ॥
तीन वातवलयों से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना ।
पर नर पति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना ॥७५॥

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी ।
पूर्ण निगलता खेद ! भानु को भासुरतम जो परतापी ॥
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता ।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता ॥७६॥

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला पिला ।
सकल जगत् को संमोहित कर सही पंथ से भुला भुला ॥
सघन भयानक भव कानन में हन्ता बन कर विचर रहा ।
उसे मारता कौन बली वह कहाँ रहा है किधर रहा ॥७७॥

आता है कब किस विध आता कहाँ से आता है ।
महादुष्ट है काल विषय में कुछ भी कहा न जाता है ॥
वह तो निश्चित आता ही पै तुम क्यों बैठे मन माने ।
विज्ञ ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने ॥७८॥

किसी तरह संबंध नहीं हो दुष्ट काल से बस जिसका ।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका ॥
देश काल विधि हेतु वही इस जहाँ मोह का नाम नहीं ।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही ॥७९॥

बार-बार उपकार किया पर, बार बार अपकार मिला ।
इस विधि द्वारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला ॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला ।
किस विध इसमें मुग्ध हुवा तू जिस को जग सुख प्याला ॥८०॥

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चल रहा ।
तथा बहुत से रोगों से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा ॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है ।
परभव सुख का बीज रहा बस मानव जीवन अघहर है ॥८१॥

निशि में बिता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता ।
जागृत हो जीवन साधन में दिन भर विलीन हो पाता ॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा ।
किन्तु काय में कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा ॥८२॥

अरे ! हितैषी इस जीवन में बन्धु जनों से क्या पाया ।
सत्य-सत्य बस हमें बता दे क्या ! हित अनुभव कर पाया ? ॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कंचन तन को ।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित घर तव तन को ॥८३॥

राग रंगमय भवबर्धक हैं विवाह आदिक कार्य रहें ।
उनको करने में ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहें ॥
अतः वस्तुतः परम शत्रु है परिजन इस विधि जान अरे ! ।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरें ॥८४॥

जिसके जीवन में वह जलता आशारूपी अनल महा ।
जिसमें डाले धन इंधन को ढेर ढेर तन विकल अहा ॥
प्रतिफल में वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती ।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पर बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती ॥८५॥

धवल धवल तम बालों से तव मस्तक शशि सम धवलित है ।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकली मम मत है ॥
जरा दशा में जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता ।
पर हित का अतः स्मरण भी किस विध यह मन कर सकता ॥८६॥

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय भव सुख खारा उदक रहा ।
बहुविध मानस दुख वडनानल जिसके भीतर धधक रहा ॥
जनन जरा मृति तरंग उठती मोह मगर मुख खोले हैं ।
भव दधि में गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले हैं ॥८७॥

अविरत सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था ।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था ॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे ।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध बनी में मृगी लखे ॥८८॥

निर्बल तन मन बालक जब थे नहीं हिताहित विदित हुये ।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन में निशिदिन भ्रमित हुए ॥
प्रौढ़ हुए धन तृषा बढ़ी फिर कृषि आदिक कर विकल बने ।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने ॥८९॥

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं
धन संचय करता तब विधि ने किया तुझे क्या दुखित नहीं ॥
अन्त समय तो दांत तोड़कर इसने तब उपहास किया ।
फिर भी तू दुर्मति विधिवश हो विधि परही विश्वास किया ॥९०॥

घृणित दशा तव देख सके ना तभी नेत्र तव अन्ध हुये ।
तव निंदा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये ॥
निकट काल को लख भय वश तब पूर्ण कांपता बदन तथा ।
फिर भी रहता अकंप जर्जर तन में जलता भवन यथा ॥९१॥

परिचय जिनका अधिक हुवा हो वहीं अनादर तनता है ।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथा ऽऽदर बनता है ॥
दोष कोष में निरत हुवा क्यों गुण-गण से अति विरत हुवा ।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करता यह ना उचित हुवा ॥९२॥

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा ।
जल में रहकर जल ना छूता कठोर कर्कश सहज रहा ॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फस मर जाता ।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता ॥९३॥

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्बल स्वपर बोध का हेतु रही ।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भव दधि में शुभ सेतु सही ॥
इस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं ।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मति वाले हैं ॥९४॥

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं ।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं ॥
किन्तु खेद है वीर धीर और बुध जन तक भी कितर हैं ।
इन्हीं सुराधिप भूप जनों के जिन पर हँसते शंकर हैं ॥९५॥

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें ।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें ॥
यह पथ शम मय जिस पर चलना विषयी का वह कार्य नहीं ।
धर्म कथ्य नहीं महाजनों को जिसे लखे जिन आर्य सही ॥९६॥

अशुचि धाम तन दुखद रहा है इसमें चिर से निवस रहा ।
निरीह इससे हुवा नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा ॥
घटे राग तव, सदुपदेश में अतः निरत नित यति जन ये ।
महाजनों की परहित की रति लख जरा, तज रति मन ऐ ! ॥९७॥

'इस विध' 'उस विध' तन है इस विध कहने से कुछ अर्थ नहीं ।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं ॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन संपद है ।
भव भ्रमितों का यह जड़ तन सब विपदाओं का आस्पद है ॥९८॥

मल घर माँ का उदर जहाँ चिर क्षुधित तृषित मुख खोल पड़ा ।
पड़ा अन्नमल मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सड़ा ॥
निश्चल था तव कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा ।
चूंकि जनन का मरण जनक है यही मुझे परतीत हुवा ॥९९॥

अजा कृपाणक समान तूने चिर से अब तक कार्य किया ।
नहीं हिताहित हुवा विदित है आर्य दुरित अनिवार्य किया ॥
अन्धक वर्तन न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा ।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा ॥१००॥

हा ! आकस्मिक, वनितादिक की काम कामना करवाता ।
निज को पंडित माने उनके पंडितपन को भरमाता ॥
फिर भी पंडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय ।
सुतप अनल से क्रूर काम को यहीं जलाते बन निर्दय ॥१०१॥

समझ विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता ।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना दिये धन तज देता ॥
किन्तु प्रथम ही दुखद जान धन नहिं लेता वह बड़भागी ।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी ॥१०२॥

विलासतायें प्राप्त संपदा संत साधु ये यदि तजते ।
विस्मय क्या है इस घटना में विरागता को जब भजते ॥
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा मनो, नर यदि करता ।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहिं करता ॥१०३॥

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजता रोता तब जड़ मति-वाला ।
तथा संपदा तजता यद्यपि मद करता हिम्मत-वाला ।
ना मद करता ना रोता है किन्तु संपदा तजता है ।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है ॥१०४॥

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा ।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा ।
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मौन सुधी ॥१०५॥

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा ।
बार-बार तन धार धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा ॥
राग हटाकर विराग बन कर एक बार यदि निज ध्याता ।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चित बनता शिव धाता ॥१०६॥

जीव दया मय इन्द्रिय दम मय संग त्यागमय पथ चलना ।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना ॥
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है ॥
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है ॥१०७॥

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा ।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा ॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है ।
रही "कुटी परवेश क्रिया" ज्यों विशुद्ध तन को करती है ॥१०८॥

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते ।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते ॥
मार मार कंदर्प काल में बाल ब्रह्मचारी प्यारे ।
चाहता हूँ हम इस भावना से उन चरणों को उर धारें ॥१०९॥

सदा अकिंचन मैं चेतन हूँ इस विध चिंतन करना है ।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है ॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है ।
परमातम का गूढ़रूप यह प्राप्त ! और सब सपना है ॥११०॥

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं ।
दुर्लभ तम है अशुचि धाम है जिसकी दुखमय गात रही ॥
इस गति में ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है ॥
अतः करे तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है ॥१११॥

ध्यान समग में जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बनें बुध सम्मति है ।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र क्षति यदि है तो विधि क्षति है ॥
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही ।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करें कष्ट ना तिल भर भी ॥११२॥

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता ?
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता ?
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को ?
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को ? ॥११३॥

यहीं सहज कोपादिक पर भी पाता तापस विजय अहा !
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा !
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र बस वरण करें ।
ताप पाप हर कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करें ॥११४॥

अपक्व फल से लगा फूल ज्यों यथा समय पर गलता है ।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल लिपटा शुभ फल फलता है ॥
दूध सुरक्षित रख जल सूखे समाधि अगनी में जिसकी ।
आयु सूखती वृष रक्षित कर धन्य ! वही जय हो उसकी ॥११५॥

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं ।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं ॥
जीवन भर चिर तापस बनकर खरतर तपते अचल महा ।
भ्रात ज्ञात हो निश्चित ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा ॥११६॥

आत्म ज्ञान वह चूंकि हुवा हो तन का परिचय स्पष्ट रहा ।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा ॥
तन का पालन करने में बस तदर्थ प्रयोजन एक रहा ।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा ॥११७॥

जीरण तृण सम सकल संपदा तजी वृषभ ने तपधारा ।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा ॥
बहुत दिवस तक मिली नहीं विधि भिक्षार्थी बन भ्रमण किया ।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिनने परिषह सहन किया ॥११८॥

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा ।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा ॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहाँ ।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहाँ ॥११९॥

प्रथम संयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है ।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है ॥
तदुपरान्त वह सुतप ध्यान से और सुशोभित हो जाता ।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ में रवि भाता ॥१२०॥

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर श्री निधि यमी दमी ।
दीप बने है उन्हें नमूँ मम अघ तम को हो कमी कमी ॥
समीचीन आलोक भाग से करो स्वपर को उजल रहें ।
कर्म रूप अति काला काजल फलतः पल-पल उगल रहें ॥१२१॥

सही सही आगम का भवि जब चिंतन मंथन करता है ।
अशुभ असंयम तज शुभ संयम प्रथम यथाविधि धरता है ॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म मल धुलता है ।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है ॥१२२॥

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति में अनुराग हुवा ।
भविक जनों का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा ॥
प्रभात में जब बाल भानु की कोमल हलकी सी लाली ।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली ॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग में रमन करो ।
स्वरव नारक निगोद आदिक गतियों में गिर भ्रमण करो ॥
संध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके ।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके ॥१२४॥

चरित पालकी पड़ाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक हैं ।
तप संबल है सहचर लज्जा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है ॥
सरल पंथ शम जल से सिंचित दया भाव ही छाँव रही ।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुँचाती शिव गाँव सही ॥१२५॥

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी रही दृष्टि विष दुरित मही ।
जिसके पल भर ही लखने से ही धू-धू जगत सभी ।
विलोम उनके तुम हो जिससे क्रुद्ध भटकती विवश सभी ।
स्त्री के मिष विष वे उनके वश हो न वशी बस निमिष कभी ॥१२६॥

कभी क्रुद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं ।
लो औषध भी बहु मिलती झट विष हरती है सुधामयी ॥
किन्तु क्रुद्ध या प्रसन्न रह भी "दिखी देख" सबको मारे ।
जिस पर औषध नहिं स्त्री-नागिन से योगी भी भय धारे ॥१२७॥

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है ।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-बगिया में खिलती है ॥
इसे सजा गुण गण से इसमें रम जाओ पर मत बोलो ।
अन्य स्त्रियों से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो ॥१२८॥

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही ।
तरल लहर सुख से स्त्री सरवर वचन सलिल से विहँस रही ॥
बालक सम हा ! अज्ञ तृषित ही जिसके तट पर बस जाते ।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नहीं निकलते फँस जाते ॥१२९॥

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला ।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त, किया है पूर्ण रूप से धरातला ॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा ! मरण जहाँ ।
मदन व्याधपति से पीड़ित जन-मृग ढूँढत सुख शरण यहाँ ॥१३०॥

हे ! निर्लज्जित सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है ।
बना घृणा का भय आस्पद ज्ञात नहीं क्या जड़घन है ॥
तव तन को लख महिला डरती चूँकि सहज कातर रहती ।
क्या न डराता उन्हें वृथा तव रति उनमें क्यों कर रहती ॥१३१॥

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं ।
रोमावलिमय कुपथ बहुत हैं भ्रमित करें पथ दिखे नहीं ॥
दुखद त्रिवलियाँ सरितायें है जिसे घिरी, नहिं पार कहीं ।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ़ ! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं ? ॥१३२॥

मदन शस्त्र का नाड़ी व्रण है जहाँ पटकता मल कामी ।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई है वह बाँबी ॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शैल का द्वेष गर्त है बुध गाते ।
रम्य-दान्त-वाली स्त्री जन का योनिस्थान न तन तातें ॥१३३॥

कृत्रिम गड्ढे में जिस विध गज ! तप धारक भी गिरते हैं ।
स्त्रीजन के उस योनिस्थान में विषयों से जब घिरते हैं ॥
प्रथम जन्म थल अतः मात वह रागथान ! पर जड़ कहते ।
उन दुष्टों के दुष्ट वचन से ठगा जगत है हम कहते ॥१३४॥

कराल काला काल कूट वह महादेव के गला पड़ा ।
पर उस विषधर का विष उस पर नहीं चढ़ा क्या भला चढ़ा ॥
तथापि वह तो स्त्री संगति से अति जलता दिन रात रहे ।
निश्चित ही बस विषम विषमतम विष हैं स्त्री जन, ज्ञात रहे ॥१३५॥

सकल दोष के कोष यद्यपि स्त्री-काया की परिणति होती ।
शशि आदिक समसुंदर दिखती जिससे यदि तव रति होती ॥
शुचितर शुभतम पदार्थ भर में करो भली फिर प्रीति यहाँ ।
किन्तु काम रत मदान्ध जन में कहाँ बोध शुभ रीति कहाँ ॥१३६॥

यदा प्रिया को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी ।
किन्तु प्रिया को विषयी-इन्द्रिय अनुभवती तब बने सुखी ॥
मात्र शब्द से नहीं नपुंसक रहा अर्थ से भी मन ओ ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो ? ॥१३७॥

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है ज्ञान-युत सुतप महा ।
राज्य त्याग तप करे महा लघु करे राज्य, तज सुतप अहा ॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है इस विध बुधजन समझ सभी ।
पाप भीत वे आर्य करें बस भव भय हर तप सहज अभी ॥१३८॥

पूर्ण खिले हों पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक हैं ।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक हैं ॥
छूते पैरों से तक पुनि, ना गंध फूल से नहिं झरता ।
अहो जगत् में नाश गुणों का क्या क्या अनर्थ है नहिं करता ॥१३९॥

अरे चन्द्र तू तूझे हुवा क्या बता समल क्यों बना कुधी ।
बनना तुझ को समल इष्ट था पूर्ण समल क्यों बना नहीं ॥
तव मल को प्रकाटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही ।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कहीं ॥१४०॥

दोष छिपा कुछ शिष्य जनों के स्वयं मनो गुरु क्या चले चला ।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नहीं रहा ।
स्वल्प दोष भी बढ़ा चढ़ा खल भले कहें गुरु वही महा ॥१४१॥

गुरु के वचनों में यद्यपि वह कठोरता भी रहती है ।
भविक जनों के मन की कलियाँ तथापि खुलती खिलती हैं ॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणें अगनी बरसातीं ।
कोमल कोमलतम कमलों को किन्तु खुल खिला विहँसातीं ॥१४२॥

उभय लोक के हित की बातें कई सुनाते सुनते थे ।
विगत काल में भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे ॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले ।
हित पथ चलने वाले तो "ईद चन्द्र" सम विरल खिले ॥१४३॥

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हें है जबकि दिखाते दूषण हैं ।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है ॥
बुधजन की जो करें प्रशंसा बिन आगम का ज्ञान अहा ।
विज्ञ तुष्ट नहिं होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा ॥१४४॥

सद्गति सुख के साधक गुण गण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं ।
दुर्गति दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं ॥
फलतः साधक को भजते हैं अहित विधायक को तजते ।
सुबुध जनों में श्रेष्ठ वही वे जन जन हैं उनको भजते ॥१४५॥

अविनश्वर शिव सुख प्रद पथ तज अहित पंथ पर चलता है ।
कुधी बना है दुःख दाह से फलतः पल पल जलता है ॥
कुटिल चाह तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता ।
सुधी नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता ॥१४६॥

मिथ्यात्वादिक दोष रहे हैं मोहादिक से उदित हुए ।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते हैं मोहादिक जब शमित हुए
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता ।
सुख निधि यश निधी वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता ॥१४७॥

बढ़न किसी के घटन किसी के आयु धनादिक हैं चलते ।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सब में मिलते ॥
किन्तु दृगादिक बढ़े, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहें ।
इससे उल्टा जीवन जिनका सुबुध कहें वे अज्ञ रहें ॥१४८॥

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियों से कलियुग में ।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नहीं धन मुनिपद में ॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यों को नहिं शिवपथ दिखला सकता ।
मूल्य मणी सम महामना मुनि महि में है विरला दिखता ॥१४९॥

निज को मुनि माने अति आकुल महिला जन के लखने से ।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जैसे ॥
विषय वनी में जिन्हें कभी भी बना असंभव स्थिर रहना ।
तूफानी बादल सम चंचल उनकी संगति मत करना ॥१५०॥

गेह गुफा हो गगन दिशायें तेरे हो बस वसन सदा ।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा ॥
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणा-वली तव वनिता है ।
वृथा याचना मत कर अब तू मूनियों की यह कविता है ॥१५१॥

सकल विश्व में और दूसरा नभ सम गुरुतम नहीं रहा ।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नहीं रहा ॥
मात्र इसी पर ध्यान दे रहें मुक्ति यहाँ जो प्रचलित है ।
स्वाभिमान मंडित जन ओ क्या नहीं दीन से परिचित है ॥१५२॥

याचक बनकर दीन याचनादीन भाव से करता है ।
मैं मानूँ तब उसका गौरव दाता में जा भरता है ॥
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहिं रखता है ।
दान समय में दाता गुरु और याचक लघु क्यों दिखता है ॥१५३॥

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते हैं ।
ग्रहण भाव को नहिं रखते वे ऊपर जाते दिखते हैं ।
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें बतलाती है ।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है ॥१५४॥

धनी जनों से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते हैं ।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हें धनी कब करते हैं ।
याचक की ना प्याय बुझाता धनिकपना क्या काम रहा ।
धनिकपना से निर्धनपन मय मुनिपन वर अभिराम रहा ॥१५५॥

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है ।
तीन लोक की सब निधियाँ भी जिसे नहीं भर पाई हैं ॥
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है ।
इसीलिये तू मान ! मानधन ही धन भव दुख हरता है ॥१५६॥

तीन लोक को नीचे जिसने किया थाह किसने पाई ।
थाह नहीं है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई ॥
किन्तु यही आश्चर्य रहा किया इसे भी समतल है ।
तज तज विषयों को भविकों ने धार तोष धन संबल है ॥१५७॥

भाव भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथा समय श्रावक देते ।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते ॥
महामना मुनियों को वह भी लज्जा का ही कारण है ।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण हैं ॥१५८॥

देह अशन-धन गृही व्रती है दाता इस विध शास्त्र कहें ।
निज पर हित हो अशन गहें मुनि निरीह तन से पात्र रहें ॥
पात्र दान दे पात्र दान से रागद्वेष यदि वे करते ।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते ॥१५९॥

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही ।
सहज आत्म सुख इन्हें मिटाया विधि ने विधि पहिचान यही ॥
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नहीं ।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यों सुस्थित बने दुख भाजन ही ॥१६०॥

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गों में तुम जावोगे ।
विषयों की यदि रुचि है मन में विषयों को बस पाओगे ॥
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो ।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यों वृथा अहो ॥१६१॥

बाहर भीतर संग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा ।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा ॥
साधु जनों को एक मात्र बस विषद सुलोचन ज्ञान सही ।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ॥१६२॥

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हें रही ।
कर्म उन्हें पीड़ित कर सकता भीति कर्म से उन्हें रही ॥
जिनकी आशा निराशता में किन्तु ढ़ली फिर कर्म भला ।
उन्हें दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला ॥१६३॥

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते हैं ।
परम पूज्य वे बनते, जन जन नाम उन्हीं के जपते हैं ॥
पुरुष बने हैं किन्तु तपों को तज विषयन में झल रहे ।
पद पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहे ॥१६४॥

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा ।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख यह चूँकि सुतप का सुफल रहा ॥
समझ विषम विष विषयों को तज तपधर, पुनि तज तप मोही ।
सुधी उन्हीं का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही ॥१६५॥

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता ।
संभावित पीड़ा लखकर तब कँपता भय से है घिरता ॥
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति हैं ।
किन्तु भीति नहिं होती उनको होते विस्मित हम अति हैं ॥१६६॥

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो ।
योग सुतप का उसे मिले शुचिपन से झट भूषित हो ॥
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है ।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है ॥१६७॥

जहाँ कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी हैं ।
उन सब में भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है ॥
परमामृत का प्रथम पान कर पुनः उसे जो वमन करें ।
सुकृत रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन में रमण करें ॥१६८॥

बाह्य शत्रु आरंभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया ।
निज बल संग्रह करने वाला तब थोड़ा बस जाग जिया ॥
अशन शयन गमनादिक में हो जागृत निज रक्षण करना ।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना ॥१६९॥

कतिपय नयमय शाखाओं में वचन पत्र से सजा हुवा ।
अमित धर्म के नित्य अर्थमय फूल फलों से लदा हुवा ॥
उन्नत "श्रुत-तरु" समकित मतिमय जड़ जिसकी अति दृढतर भी
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उसे पर ही ॥१७०॥

अव्यय व्ययमय एक नेक भी विलसित होती निज सत्ता ।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता ॥
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही ।
इस विध चिंतन बुधजन कर लो रहो जगत में जगत सही ॥१७१॥

एक द्रव्य ही एक समय में ध्रौव्य रूप भी लसता है ।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार कर हँसता है ॥
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है ।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमें जो होता है ॥१७२॥

बोध धाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय ही तत्त्व रहा ।
चूंकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहाँ ॥
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु, तत्त्व वह प्रतिपल है ।
इसी भाँति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है ॥१७३॥

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवल ज्ञान रहा ।
उसका मिलना ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा ॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो ।
ज्ञान भावना के सरवर में संग त्याग अवगाह करो ॥१७४॥

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है ।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहिं अविनश्वर है ॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने ।
अहो ! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने ॥१७५॥

शास्त्र अग्नि में भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते ।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते ॥
उसी अग्नि में मलिन मुखी हो राख-राख बनकर नशते ।
किन्तु दुष्ट वे विषयी निज को विषय पाश में हैं कसते ॥१७६॥

बार बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है ।
पदार्थ दल जिस विध है इस विध उसको केवल चखना है ॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करें ।
किन्तु भूल भी राग रोग के कभी नहीं गुणगान करें ॥१७७॥

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बंधन पलता ।
तब तक भवदधि में आतम का भ्रमण नियम से है चलता ॥
एक छोर से रस्सी बँधती एक ओर से खुलती है ।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है ॥१७८॥

एक ओर से भले छोड़ दो रस्सी, मथनी नहिं रुकती ।
और छोर से नियम रूप से बंधती भ्रमती है रहती ॥
उसी भाँति कुछ कर्म छोड़ते बंध भ्रमण पर नहिं मिटते ।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बंध भ्रमण तब सब मिटते ॥१७९॥

भले पालते समिति गुप्तियाँ तुम बहुविध तप हो धरते ।
बहुविध विधि का बँधन बँधता राग द्वेष यदि हो करते ॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग रोष यदि नहिं करते ।
उन्हीं समितियाँ गुप्ति पालकर मुक्ति रमा को झट बरते ॥१८०॥

हित पथ के अरुचि भाव औ अहित पंथ का राग वही ।
पाप कर्म का बंध करारा अतः उसे तू त्याग यहीं ।
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले ।
दोनों मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१॥

मूल और अंकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहें ।
मोह बीज से राग द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहें ॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हें जला कर शान्त करो ।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीड़ाप्रद होता ।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता ॥
मोह घाव भी संग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा ।
संग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हें जो मिलते हैं ।
तथा शत्रु यदि उन्हें मानते दुखित तुम्हें जो करते हैं ॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दुःख अति सहते हो ।
अतः मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यों करते हो ॥१८४॥

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन हैं ।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय में जड़ जन हैं ।
उन्हें सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहें ।
सुधी करें ना शोक मरण में फलतः शिव सुख विमल गहें ॥१८५॥

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता ।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता ॥
अतः सुधीजन इष्ट हानि में शोक किये बिन मुदित रहें ।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद में हम नमित रहें ॥१८६॥

इस भव में जो सुखी हुवा हो वही सुखी पर भव में हो ।
दुखी रहा है इस जीवन में वही दुखी पर भव में हो ॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा ।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा ॥१८७॥

मरण प्राप्त कर पुनः मरण को जग प्राणी जो पाते हैं ।
उनका वह ही जनम रहा है साधु संत यों गाते हैं ॥
किन्तु जन्म में जन्म दिवस में होते मोही प्रमुदित हैं ।
मना रहे वे भावी मृतिका उत्सव यह मम अभिमत है ॥१८८॥

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा ।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-ममिवाला ॥
तप तरु में जो लगा फूल है उसे तोड़ता वृथा रहा ।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा ॥१८९॥

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोड़न कर लो ।
उचित तपों से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो ॥
इन्द्रिय विषयों कषाय रिपुओं जीत विजेता तभी बनो ।
तप श्रुत का फल शम हैं मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो ॥१९०॥

विषय रसिक को लखकर क्यों कर विषय भाव मन में लाते ।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन में लाते ॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे ।
निषिद्ध मानों निषिद्ध ना हैं सशक्त भोगी को वैसे ॥१९१॥

अहित विधायक विषयों में रत विषयीजन भी त्याग करें ।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन में एक बार भी राग करें ॥
भव भव में वे जिनने परखे विषय विषम विष से सारे ।
निज हित में रत बुध किस विध फिर विषयों में रत हो प्यारे ॥१९२॥

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता ।
अब तुम मुनि बन निज चारित जल से अंतर आतम धुलता ॥
मिले आत्म से परमातम पद मिलता केवलज्ञान महा ।
आतम से आतम में आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

दास बनाकर तन से अब तक कष्ट दिया अति कदुतर है ।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है ॥
जब तक तन की स्थिति है जब तक लेलो तुम इससे बदला ।
स्वयं शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला ॥१९४॥

प्रथम जनन हो तन का तन में भाँति-भाँति इन्द्रिय उगती ।
इन्द्रिय निज निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती ॥
फलतः होती मान हानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो ।
अनर्थ जड़ है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो ॥१९५॥

मोह भाव से मंडित जन ही तन को पोषण करते हैं ।
विषयों का सेवन करते हैं आतम शोषण करते हैं ।
सब कुछ उनको सुलभ रहे हैं कोई दुष्कर कार्य नहीं ।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नहीं ॥१९६॥

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन में भ्रमते ।
किन्तु रात में ग्रामादिक के निकट थान में आ जमते ॥
इसी भाँति कलियुग में मुनिगण दिन में रहते हैं वन में ।
किन्तु खेद ! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन में ॥१९७॥

यदपि आज तुम तप धरते हो बचकर रागी बनने से ।
यदि लुटती वैराग्य संपदा कल स्त्रीजन के लखने से ॥
जनन मरण तो नहीं मिटाता किन्तु बढ़ाता उस तप से ।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही शास्त्र कह रहा तुम सबसे ॥१९८॥

स्वाभिमान औ लज्जा तजकर जीवन जीता स्वार्थ बिना ।
स्त्री के वश अपमानित शत् शत् बार हुआ अति आर्त्त बना ॥
ठगा हुआ है स्त्री तन से तू किन्तु साथ वे नहीं चलते ।
रहा सुधी यदि अत: राग तज तन का जिससे विधि पलते ॥१९९॥

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं ।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव कष्ट खेद बस हाय यही ॥
तव तन नहिं है तन में रचता अभेद जिसको मान रहा ।
छिदता भिदता भव वन में तू बहुत दुखी भयवान रहा ॥२००॥

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहें ।
विविध आधियाँ दुखद व्याधियाँ तथा सगे तव भ्रात रहें ॥
अन्त समय में साथ दे रहा परम मित्र है जरा यही ।
फिर भी तन में आशा अटकी भलासोच तू जरा सही ॥२०१॥

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा ।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा ॥
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचि धाम मल झरता है ।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है ॥२०२॥

नर सुर पशु नारक गतियों में सुचिर काल से दुखित हुवा ।
उसका कारण तन धारण तन-पालन में तू निरत हुवा ॥
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है ।
अब यह साहस ! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है ॥२०३॥

जिनके तन में असहनीय हो कर्म योग से रोग रहें ।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहें ॥
उचित रहा यह भले बढ़ रहा नीर नदी में बड़ी नदी ।
छिद्र रहित नौका में बैठा यात्री डरता कभी नहीं ॥२०४॥

साधक तन में रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करें ।
यदि नहिं मिटना तन तज निज पर समता धर उपकार करें ॥
आग लगी हो घर में यदि तो तज दे उसका शमन करें ।
नहीं बुझे तो यहीं रहें क्या ? और कहीं झट गमन करें ॥२०५॥

सर पर भारी भार स्वयं ले पथिक चल रहा पथ पर हो ।
किसी तरह कंधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो ॥
यदपि भार तन पर से उतरा नहीं तदपि वह अज्ञानी ।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हँसते सब ज्ञानी ॥२०६॥

सदुपचार से रोगों का यदि प्रतीकार वह हो सकता ।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथा योग्य बस कर सकता ॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित हैं ।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है ॥२०७॥

तन रति रखता फिर फिर तन धर यह भव में भ्रमता है ।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन में रमता है ॥
इसीलिए बस इस जीवन में त्याज्य रहा तन रति तन है ।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पों से तो केवल बंधन है ॥२०८॥

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जड़मय है ।
पूज्य बनाता उसे चरित से आत्म का यह अतिशय है ॥
किन्तु काय तो आतम को भी निन्द्य बनाता नीच अहा ।
इसीलिये धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा ॥२०९॥

रस रुधिरादिक सप्त धातुमय जिसका आदिम भाग रहा ।
ज्ञानावरणादिक कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा ॥
ज्ञानादिक गुण-गण ले चिर से भाग तीसरा वह भाता ।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता ॥२१०॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है ।
नित्य रहा है वसु विधि के कलुषित पीवन पीता है ॥
सही जानकर दो भागों से पृथक् जीव को कर सकता ।
तत्त्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता ॥२११॥

घोर घोरतर विविध तपों को मतकर यदि नहिं कर सकता ।
क्योंकि दीर्घ संहनन नहीं है क्लेश सहन नहिं कर सकता ॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहिं करता ।
विज्ञ कहें तव यही अज्ञता में समझूँ यह कायरता ॥२१२॥

अगाध यद्यपि हृदय सरोंस शुचि चेतन जल से भरित रहा ।
कषायमय हिंसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा ॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहिं मिलते ।
यम दम शम सम क्रमशः पालो फलतः पल में ये मिटते ॥२१३॥

शांत मनस की करे प्रशंसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा ।
किन्तु संग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा ॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है ।
जिससे इहभव परभव सुख से वंचित जीवन निष्फल है ॥२१४॥

सागर जल सम यद्यपि तुम में बोध, शास्त्र का मनन किया ।
कठिन तपस्या में भी रत हो कषाय का भी हनन किया ॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममें उसको शीघ्र तजें ।
जिस विधि सर सूखे ऊपर, नहिं दिखता नीचे नीर बचे ॥२१५॥

अबोध वश शिव ने मन में स्थित मनोज को ही भुला दिया ।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित हो कर जला दिया ॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा ।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी न हो ? उचित रहा ॥२१६॥

बाहुबली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा ।
उसे तजा मुनि हुवा वनी में निसंग बन निर्वस्त्र बसा ।
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा ।
स्वल्प 'मान' भी महा हानि का नायक है वृषभेश कहा ॥२१७॥

दान पुण्य में धन जिनके मन में आगम करुणा उर में ।
शौर्य बाहु में सत्य वचन में लक्ष्मी परम पराक्रम में ॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व में बहु मिलते ।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से हैं चलते ॥२१८॥

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले ।
वाल वलय त्रय आश्रित चिरसे रहते नभ के आश्रय ले ॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन में जब दिखता ।
निज से गुरु हैं उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता ? ॥२१९॥

मरीचिका यश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा ।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वत्थामा का मरण हुवा ॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुना ! शाम घनशाम बने ।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने ॥२२०॥

माया का जो गर्त रहा अतल आगम अति बड़ा रहा ।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा ॥
जिसमें अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन हैं ।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नहीं दीखती अनगिन हैं ॥२२१॥

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं ।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यों उचित नहीं ॥
धवल धवलतम निजकिरणों से ताप मिटाता शांत अहो !
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो ॥२२२॥

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूँछ कहीं ।
लता कुंज में बाल लोलुपी अचल खड़ी सुध भूल वहीं ॥
फलतः जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा ।
विपदाओं से घिरे रहें अति लोभी जन 'यह वेद' रहा ॥२२३॥

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना ।
कषाय निग्रह संग त्याग औ विषयों में ना फँस मरना ।
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक जनों में प्रकट रहें ।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहें ॥२२४॥

सब जीवों पर करुणा रखते ध्यानन में नित निरत रहें ।
अशन यथाविधि स्वल्प करें मुनि जित निद्रक हैं विरत रहें ॥
दृढ़तर संयम नियम पालते बाहर भीतर शांत रहें ।
समूल दुख को नष्ट करें वे सार आत्म का ज्ञात रहें ॥२२५॥

निज हित में ही दत्त चित्त हैं सकल पाप से दूर रहें ।
स्वपर भेद विज्ञान सहित हैं इन्द्रिय विजयी शूर रहें ॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन में कुछ संकल्प नहीं ।
शिव सुख भाजन क्यों ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नहीं ॥२२६॥

दास बना है विषयों का जो जीवन जिसका परवशता ।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता ? ।
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को ।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे हैं डरना जगना है तुमको ॥२२७॥

रम्य वस्तुयें वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया ।
संयम साधक उपकरणों में वृथा भला क्यों राग किया ॥
मुझे बतादे रोग भीति से यद्यपि अशन ना खाता है ।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है ॥२२८॥

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता ।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता ।
तप श्रुत का साधन कर उग विध जब निज में अति थिति पाता ।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता ॥२२९॥

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से ।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे ॥
अपार सागर जल, बाड़व को देख ! देखकर हिलता है ।
शत्रु रहें यदि निकट उसे कब जीवन में सुख मिलता है ॥२३०॥

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है ।
स्तुत्य नहीं वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है ॥
पाप कर्मका बंधन जिससे चूंकि निरन्तर चलता है ।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जला कर जलता है ॥२३१॥

राग रंग से जब तू हटता शेष नियम से करता है ।
रोष भाष को तजता फिर से राग रंग में ढलता है
किन्तु कभी ना शेष तोष तज लाता मन में समता है ।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भव कानन में भ्रमता है ॥२३२॥

तपा लोह का गोला जल कण से नहिं शांत बने ।
पूर्ण रूप से उसे डूबा दो गहरे जल में शान्त बने ॥
दुःख अनल में तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नहीं ।
मिटती, मिलती मोक्ष सिंधु में डूबे तो चिर शान्ति सही ॥२३३॥

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा ।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा ॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है ।
तुम्हें शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है ॥२३४॥

यथार्थ में यह सकल विश्व ही एक रूप हे योग्य रहा ।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा ॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इस विध विकल्प तजना है ।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हें यदि निर्विकल्प पन भजना है ॥२३५॥

त्याज्य वस्तुयें जब तक तुम नहिं तजते तब तक बुधजन से ।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से ॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती ।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती ॥२३६॥

राग द्वेष यदि मन में उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है ।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है ॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते ।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को तातें ॥२३७॥

महा भयानक भव भँवरों में भ्रमित पड़ा मैं दुख पाता ।
जिन भावों को भा न सका अब उन भावों को बस भाता ॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढ़ा दिया ।
उन्हें तजूँ निज भाव भजूँ है भवनाशक गुरु पढ़ा दिया ॥२३८॥

सुनो शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहें ।
प्रति युगलों में आदिम त्रय है हित कारण हैं विमल रहें ॥
उनको तुम अपने जीवन में धारण कर लो सुख वर लो ।
अशुभ पाप दुख शेष अहित हैं अहित हेतुवों को हर लो ॥२३९॥

हित कारक में भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा ।
पुण्य और सुख स्वयं छूट ही जाते हैं सुन आर्य ! महा ॥
इस विध शुभ को छोड़ शुद्ध में श्वास श्वास पर बस रमना ।
अन्त समय में अनंत पद पा अनन्त भव में ना भ्रमना ॥२४०॥

जीव रहा चिर बंधन बंधित बंधन तनादि आस्रव से ।
आस्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से ॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते ।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धार योग रोध कर शिव जाते ॥२४१॥

यह तन मेरा रहा, मैं इसका इसविध प्रीति रही ।
तब तक-फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही ॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खड़ी ।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही ॥२४२॥

तन ही मैं हूँ मैं ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा ।
भवसागर में फलतः अब तक दुखित रहा है क्लान्त रहा ॥
अन्य रहा हूँ तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा ।
तन तो तन है मैं हूँ शिवसुख दे चैतन्य महा ॥२४३॥

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल में अन्ध हुवा ।
पर पदार्थ में रत तू था तब दृढ़तम विधि बंध हुवा ॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय में कारण है ।
सुधी जनों की सहज कुशलता अगम अहो ! अघमारण है ॥२४४॥

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बंधन वह होता है ।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बंध ही होता है ॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञात रहें ।
बंध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहें ॥२४५॥